

# International Journal of Literacy and Education

E-ISSN: 2789-1615  
P-ISSN: 2789-1607  
Impact Factor: 5.69  
IJLE 2023; 3(1): 12-14  
Received: 18-10-2022  
Accepted: 21-11-2022

## हेमलता

सहायक प्राध्यापक, श्यामा प्रसाद मुखर्जी  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
भारत

## दलित विमर्श और शिक्षण- शास्त्रीय समस्याएँ

### हेमलता

#### सारांश

भारत के आधुनिक राष्ट्र बनने और कुछ बुनियादी तर्कों में समानता, स्वायत्तता और बहस-मुबाहिसा को अपनाया गया। परन्तु इसी के दूसरे तरफ जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जो राष्ट्र के इन बुनियादी सरोकारों से कमोवेश बाहर ही रह गया। सभी तरह के विमर्शों में यह सवाल प्रमुख रहा कि उत्पीड़ितों के संघर्ष को नया संवाद दें, उन्हें विश्व पटल पर उभारे तथा उनके चिन्तन से प्रेरणा लेकर नए इतिहास रचे जाए। आधुनिकता से प्रेरणा पाने वाले वंचित तबके जो कि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तरों पर पीड़ित हैं, उन्हें इस पीड़ा से उबार जाए। शिक्षा से लेकर सत्ता तक एक खास सांस्कृतिक वर्चस्व ने चीजों को देखने सोचने से लेकर मारा अंदाज अपनी ही लाभकारी स्थितियों के अनुरूप रखा। विकास की स्थापनाओं एवं पैमानों को धता बताते हुए आज उस वर्चस्व को चुनौती मिलना शुरू हुई है। समाज की कोई शाश्वत दशा-दिशा नहीं है। अब उसमें सपाट नागरिक बनाने में दिक्कतें आती हैं। ये दिक्कतें इन आवाजों से पैदा होती हैं जो हाशिए पर गुंजती हैं। इस लेख में कुछ ऐसे ही चिंतनीय प्रश्न उठाए गए हैं।

**कूट शब्द:** दलित, शिक्षा, शिक्षणशास्त्र, पाठ्यपुस्तकें, अस्मिता

#### प्रस्तावना

आधुनिक कहे जाने वाले समाज में ज्ञान और संस्कृति को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने के लिए औपचारिक स्कूली व्यवस्था को एक महत्वपूर्ण माध्यम माना गया है। इस कार्य को पूरा करने के लिए आधुनिक शिक्षा व्यवस्था राज्य के उपकरण के तौर पर एक महत्वपूर्ण संस्था बनकर उभरी है। जिसमें शिक्षा से यह अपेक्षा की गयी है कि ये उन मानवीय गुणों का विकास करेगी जिनका योगदान आर्थिक उत्पादन, सामाजिक समता और नए तरह के हस्तक्षेप के लिए आवश्यक है। शिक्षा को सामाजिक गतिशीलता का साधन माना गया है। इसके मायने ये हैं कि कोई निर्धन या सामाजिक या सांस्कृतिक रूप से वंचित व्यक्ति शिक्षा के द्वारा अपनी स्थिति में परिवर्तन ला सकता है। इसलिए स्वतंत्रता पश्चात् जब भारतीय राज्य द्वारा शिक्षा के लक्ष्य निर्धारित किए गए तो उसकी परिकल्पना में ये निहित था कि शिक्षा एक ऐसा हथियार बनेगी जो समता लाने में सहायक होगी। शिक्षा के द्वारा लोगों को पुरातनपंथी समाज के पदसोपानीय व्यवस्था के दंश से निकाल कर समता और सामाजिक न्याय के लिए सशक्त बनाया जा सकेगा। 'टैगोर' से लेकर 'गांधी' तक के शैक्षिक दर्शन से प्रेरणा लेते हुए ऐसी शिक्षा व्यवस्था की कल्पना की गयी जिसमें सभी वर्ग के बच्चे शामिल होंगे और वे अपनी तथा दूसरों की इस रचाई दुनिया को समझ सकेंगे। समाज की मौजूदा व्यवस्था में हस्तक्षेप कर उसे परिवर्तित कर सकेंगे। इसलिए बेहद जरूरी था कि शिक्षा व्यवस्था और उसका पूरा शैक्षिक माहौल दलितों, वंचितों, महिलाओं तथा आदिवासियों के प्रति गहरे रूप से संवेदनशील हो। इसी संवेदनशीलता को दृष्टिगत रखते हुए 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति यह मानती है कि अनुसूचित जाति के बच्चों के लिए शैक्षिक कार्यक्रम इस प्रकार गठित हों जिससे उनकी समृद्ध सांस्कृतिक पहचान बनी रहे और उन्हें पूरी तरह से सामाजिक न्याय प्राप्त हो।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाये तो अन्य किसी भी तरह के सामाजिक स्तर में बढ़ने के अलावा "दलित" एक श्रेणी के तहत राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से बढ़े हैं। आन्द्रे बेते इंगित करते हैं, "समकालीन भारत में असमानता के संबंध में सार्वजनिक बहस ने पिछले एक साल में एक अजीबोगरीब मोड़ लिया है। ऐसा लगता है कि हर कोई इस बात से सहमत है कि असमानता बहुत ज्यादा है और इसे हटाया या कम किया जाना चाहिए, लेकिन उस परिणति को प्राप्त करने के लिए क्या किया जाना चाहिए इसके बारे में तीव्र असहमति है। अधिकांश मार्क्सवादियों ने अब मान लिया है कि जातिगत असमानताओं को कम करने के लिए शिक्षा और रोजगार में जाति कोटा आवश्यक है जबकि इतनी सारी असमानताओं की जड़ ही जाति है। यह आश्चर्यजनक है कि अतीत में मार्क्सवादियों ने समकालीन भारत में जाति के महत्व को नकारा है। दूसरी ओर, अधिकांश उदारपंथी समाजशास्त्रियों ने इंगित किया है कि जाति में महान परिवर्तन हो रहे हैं। यह भी तर्क दिया कि जातिगत कोटा बंद से अधिक खुले समाज में परिवर्तन की उस धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्ति को उलट देगा"।<sup>1</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति को लेकर एक खास विचारधारा जिससे बहुत सी अपेक्षाएँ हैं, वह भी कोई ठोस समाधान नहीं दे पाती है।

सामाजिक व्यवस्था का चरित्र शिक्षा के स्वरूप को प्रभावित करता है। शिक्षा को न तो एकांगी रूप से दिया जा सकता है और न ही वह एकांगी रूप में संचालित होती है। भारत में शिक्षा का स्वरूप, संरचना, स्कूल संबंधी फैसले, पाठ्यक्रम में किसका कितना प्रतिनिधित्व है इसका वैधीकरण समाज में चल रही व्यवस्थाओं पर निर्भर है। ज्ञान की वैधता भी असमानता बढ़ाने वाले उपकरणों द्वारा जैसे लिंग, वर्ग, जाति, जनजाति और मजहब द्वारा अभिग्रहीत होती है।

#### Corresponding Author:

#### हेमलता

सहायक प्राध्यापक, श्यामा प्रसाद मुखर्जी  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
भारत

पिछले दशकों में हुए अनुसंधानों ने दर्शाया है कि शिक्षा तक पहुँच व सुलभता जाति, लिंग और वर्ग के आधार पर अपना चरित्र बदलती है। थोराट अपने एक सर्वे रिपोर्ट में उद्धृत करते हैं कि, "दलित वर्ग से आए छात्रों तक शिक्षा सुलभ नहीं है और वे जल्द ही शिक्षा से बाहर धकेल दिये जाते हैं।"<sup>2</sup> इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में शिक्षा व्यवस्था समाज में व्याप्त जाति और वर्ग आधारित या अन्य किसी असमानता को संबोधित कर उनसे मुक्ति प्राप्त करने के साधन बनने के बजाय, एक नए तरह के वर्चस्व को बढ़ाने का उपकरण बनी जो किसी खास वर्ग के मूल्यों को पोषित करती है। शिक्षा व्यवस्था, पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें और पूरा कक्षाई वातावरण अधिकांश तौर पर किस तरह दलितों के प्रति असंवेदनशील बना रहा। इस पर शूद्रवादी चिंतक काँचा इलैया अपनी पुस्तक में औपचारिक शिक्षा की ज्ञानमीमांसीय विवेचना करते हुए कहते हैं- "सर्वज्ञान की हेजेमनी एवं सांस्कृतिक पूंजी से प्रस्त औपचारिक शिक्षा दलित-बहुजन छात्रों पर एक शैक्षिक आक्रमण है। इस तरह के ज्ञान से गुजरने की विवशता दलित छात्रों को शिक्षणशास्त्रीय अंतर्विरोधों में डालती है तथा सर्वज्ञान के मुकाबले उनके सीखने की संभावना को कम करती है।"<sup>3</sup> ज्ञान की प्रकृति और उसके दिये जाने के तरीके में मुक्ति के तत्वों के अलावा पराधीनता और अलगाव के तत्व शामिल रहते हैं। अधिकतर स्थितियों में इसका नियंत्रण उनके हाथों में है जो समाज के लक्ष्यों को निश्चित करने की क्षमता रखते हैं, ये ऐसा वर्चस्वशाली वर्ग होता है जो अपने वर्गीय हितों, उपभोग और सांस्कृतिक पहचान के कारण अधिकांश जनता से बिल्कुल भिन्न होता है।

दलित चिंतन अब अपने नए रूप में समकालीन चुनौतियों के साथ संबंधों की इतर व्याख्या प्रस्तुत करता है। नवम्बर, 2011 को वॉयस ऑफ पीपुल के तत्वावधान में लखनऊ के इंदिगानगर स्थित पारिजात गेस्ट हाऊस में 'विद्यालय बच्चों की नजर से' विषयक जनसुनवाई का आयोजन किया गया। जन सुनवाई में उत्तर-प्रदेश के 12 जिलों से वायस ऑफ चिल्ड्रेन बाल मंच से बच्चे शामिल हुए। उन्होंने उनके शिक्षा के अधिकार में आ रही बाधाओं पर ध्यान अवगत करवाया। "ज्यूसी सदस्यों के समक्ष कुल 41 शिक्षा अधिकार हनन के केस रखे गए। जिसमें मुख्यतः अध्यापकों द्वारा बच्चों के साथ जातिगत भेदभाव, शारीरिक एवं मानसिक प्रताड़ना तथा विद्यालय में अन्य तरह के काम करवाना जैसे-शौचालय साफ करना, झाड़ू लगवाना आदि बताया गया। साथ ही गाँव में स्कूल न होना, छात्रवृत्ति व किताबों से वंचित होना एवं ढांचागत सुविधाएं उपलब्ध न होना जैसे पीने के पानी की सुविधा न होना, शौचालय का प्रयोग बच्चों को न करने देना, बच्चों का ड्राप आउट होना, अध्यापकों द्वारा नामांकन न क्रिया जाना आदि केस रहे।"<sup>4</sup> इस तरह के बहुत से उदाहरण हमें अपने आस पास देखने को मिल सकते हैं। दलित विमर्श के बहुत से आत्मकथ्यों में दलित विचारकों एवं चिंतकों ने अपने अनुभवों द्वारा भी इस तरह के तथ्यों को बार-बार अपनी लेखनी में दर्शाया है। कृष्ण कुमार अपने एक लेख 'लिसनिंग टू गाँधी' में इस बात की पुष्टि करते हैं कि स्कूली ज्ञान पर वर्चस्वशाली जातियों के कब्जे को तोड़ने में गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा एक कदम हो सकता है। वे लिखते हैं - "प्रतीक के रूप में स्कूल में स्थानीय दस्तकारी और उत्पादन से जुड़े कौशलों और ज्ञान को लागू करने का प्रस्ताव देकर गाँधी स्कूल पाठ्यक्रम में ज्ञान की उन प्रणालियों को लागू करने का प्रस्ताव कर रहे थे जिनका विकास भारतीय समाज के कारीगर, किसान और सफाई कर्मचारी जैसे दलित समुदाय ने किया और जिनका इन तबकों से संबंध बना हुआ था। शताब्दियों से इन समूहों को शिक्षा से वंचित रखा गया और ज्ञान की जिन प्रणालियों से इनका संबंध था उसे ज्ञान का वैध दर्जा ही नहीं दिया गया। बुनियादी शिक्षा में ये प्रस्ताव था कि स्कूली शिक्षा के भीतर ही उस ज्ञान और कौशलों को स्थान दिया जाये जिन पर "नीची" जातियों का एकाधिकार रहा है।"<sup>5</sup> लेखक ने ये भी माना कि यदि बुनियादी शिक्षा कारगर रूप से लागू होती तो हमारे जाति आधारित सामाजिक ज्ञान के अलग-अलग एकाधिकारों का मौजूदा श्रेणीक्रम हिल जाता। पर ऐसा नहीं हो सका और ध्यातव्य है कि बुनियादी शिक्षा के नाम पर उसे सिर्फ समाजोपयोगी उत्पादक जैसे खंड तक ही पाठ्यचर्या में सिमटा दिया गया। इतना ही नहीं भाषाई और सांस्कृतिक रूप से भी शिक्षा व्यवस्था दलित परिवेश की गहरी उपेक्षा करती है। कक्षा के वातावरण, पाठ्यपुस्तकें एवं, पेडागॉजी (शिक्षणशास्त्र) भी इसी प्रक्रिया को छद्म रूप में आगे बढ़ाते हैं। पाठ्यक्रम के उद्देश्य और अधिगम प्रक्रिया में विरोधाभास साफ तौर पर झलकता

है। कांचा इलैया लिखते हैं- "आजादी के बाद जब स्कूल खोले गए तब वहाँ के अध्यापक हमारे खिलाफ थे। पाठ्यपुस्तकों की भाषा हमारे खिलाफ थी। हमारे घरों में जो संस्कृति थी वही संस्कृति हमारे स्कूलों में नहीं थी।"<sup>6</sup> हालांकि पाठ्यक्रम और पुस्तकों को संवेदनशील बनाने की पुरजोर कोशिश की गयी है। कई समितियों और आयोगों की रपटों में इस विषय पर बार-बार अनुशांसा की गयी है। फिर भी पाठ्य पुस्तकों पर हुए शोध दर्शाते हैं कि पुस्तकें और उनकी भाषा जाति की उत्पत्ति, उसका स्थिरीकरण, दृढ़ीकरण, रूढ़ीकरण, धार्मिकीकरण और दार्शनिकीकरण के अध्ययन-अध्यापन में बिल्कुल रुचि नहीं लेती हैं। वे यह जानने-समझने पर जोर नहीं देती कि किस प्रकार जाति व्यवस्था ने दार्शनिक रूप से दलित वंचित वर्ग को हमेशा वंचित बनाए रखने का काम किया है। इस संदर्भ में ऋतुबाला अपने एक समीक्षात्मक शोध में बताती हैं- "स्कूली पाठ्य पुस्तकें वंचित तबकों का न तो संख्यात्मक और न ही गुणात्मक रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। स्कूली पाठ्यपुस्तकों में दलितों और वंचितों की सभ्यता और संस्कृति, संघर्ष, दुनिया को देखने समझने के इनके तौर तरीके तथा इनके विरोध आंदोलनों को ना के बराबर जगह दी गई है।"<sup>7</sup>

दलित विमर्श का एक बड़ा पहलू यह है कि वो शिक्षा के दोहरे चरित्र पर सवाल खड़ा करे, क्योंकि शैक्षिक मुक्ति के बिना दलित विमर्श अधूरा ही रहेगा। पाठ्यपुस्तकों में दलित प्रतिनिधित्व या दलित चित्रण कई दशकों से शिक्षा के पैरोकारों के लिए दिलचस्पी का विषय बना हुआ है। शिक्षा का विमर्श अस्मिताओं को लेकर जिस तरह सजग हुआ है और बहुत से प्रतिमानों से गुजरते हुए आज वह खुद अपने चरित्र पर सवाल खड़ा करता है। पाठ्यपुस्तकों और कक्षा के दौरान होने वाले संवाद पर शिक्षा जगत लगातार चिंतनशील बना हुआ है। हमारी शिक्षा व्यवस्था लगातार इन सवालों से जूझ रही है कि क्या हमारी पाठ्यपुस्तकें ऐसी आलोचनात्मक दृष्टि पैदा करती हैं जिसमें विद्यार्थी तटस्थ होकर अपनी राय कायम कर सकें? स्वतंत्र मस्तिष्क से जानकारियाँ ग्रहण कर सकें? इसी विषय पर शिक्षाविद् प्रो. यशपाल कहते हैं - "पुस्तकों की विषयवस्तुओं का विन्यास ऐसा होना चाहिए कि वह वास्तविक असमानताओं के साथ-साथ उन असमानताओं को पाटने के संघर्षों से भी परिचित कराएँ। यह पढ़ाते रहना गलत होगा कि भारत एक आदर्श लोकतंत्र है, क्योंकि बच्चों का दैनिक यथार्थ उन्हें बार-बार एक अलग कहानी सुनाता है। किताबों को बताना चाहिए कि हमारा संविधान एक कल्पनाशील दस्तावेज है, मगर इसकी उपस्थिति मात्र से ही न्याय, समानता और सम्मान की गारंटी नहीं मिलती। बच्चों को यह भी समझ में आना चाहिए कि इतिहास अंतिम सच नहीं बताता, इसलिए उस पर सवाल उठाना बेहद जरूरी है। पुस्तकों में ऐसी सामग्री होनी चाहिए जो बच्चों को प्रोसिजरल डेमोक्रेसी और सब्सटैन्टिव डेमोक्रेसी के बीच तनावों से परिचित कराने की शुरुआत करें। उन्हें बच्चों को यह समझने के लिए अवसर देना चाहिए कि लोकतंत्र कोई स्थिर या गतिहीन चीज नहीं है, वह बेहदारी के लिए चलती रहने वाली परियोजना है और उसके लिए लगातार संघर्ष करना पड़ता है।"<sup>8</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाठ्यपुस्तकों को मात्र सरकार का उपकरण ही नहीं बनना है बल्कि उन्हें चिंतनशील नागरिक भी सृजित करने होंगे। ऐसी पुस्तकें बनाई जाएँ जिसके जरिये विद्यार्थी सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप कर सकें और विषयवस्तु पर प्रश्न उठा सकें। स्पष्ट है कि अगर शिक्षा सशक्तिकरण का माध्यम बनती है और जब वह छात्र-छात्राओं के बीच समालोचनात्मक दृष्टिकोण पैदा करती है, प्रश्न पूछने एवं विचारों को चुनौती देने का कार्य करने लगती है तब लाभप्रद स्थिति में रह रहे लोग असहज महसूस करने लगते हैं। क्योंकि इनके पास वर्गगत, जातिगत एवं पौरुष वर्चस्व होता है। ये चाहते हैं कि विभेदकारी स्थिति यथावत बनी रहे। पूरा शैक्षिक विमर्श इस बात का पैरोकार रहा है कि पाठ्यपुस्तकों को एक सुविचारित बहस या चर्चा का विषय बनाया जाना चाहिए। इसके लिए बच्चों की अपार क्षमताओं से रूबरू होना पड़ेगा। इस बात पर सबको सहमत होना पड़ेगा कि बच्चे की सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि कैसी भी हो, परन्तु बच्चों में यह क्षमता होती है कि वह पाठ्यपुस्तकों के बिना भी अपने परिवेश व आस-पास के बारे में स्वतंत्र राय कायम कर सकते हैं। पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु पर राजनीति होती ही रही है। दलित विमर्श या उनका प्रतिनिधित्व भी इस बात से अछूता नहीं रहा है। सतीश देशपांडे इस राजनीतिकरण पर कहते हैं- "दलित विमर्श के सहयोजन की आड़ में और उसे सभी पाठ्यपुस्तकों पर एक रणनीतिक तौर पर

व्यापक हमले में तब्दील करते हुए यह परिप्रेक्ष्य सत्ता की ताकत को और शिक्षण को अनुपालना के तुल्य बनाता है। स्कूली बच्चों को यह सिखाया ही जाना चाहिए कि कैसे वो राजनेताओं का आदर करें, उनको पूज्य मानें, व्यंग्यकारों को कैसे नजरअंदाज करें और कैसे मीडिया से आंखें मूंद लें और यदि कोई शिक्षक अथवा उनकी पाठ्यपुस्तकें इस लक्ष्य से विमुख करने की हिमाकत करते हैं उन्हें सबक सिखाना ही चाहिए।<sup>9</sup>

सतीश देशपांडे का अनुमान बहुत हद तक ठीक है। पाठ्यपुस्तकें सिर्फ स्कूल की परीक्षा को उतीर्ण करने का माध्यम नहीं बल्कि एक नई अन्तर्दृष्टि की समझ भी बनाता है। इसी पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 भी यह मानता है कि “बच्चे सीखने और ज्ञान अर्जन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। हम बच्चों की क्षमताओं पर भरोसा करते हुए उनके लिए ऐसे मौके जुटाएँ कि वे अवलोकन, सोचने, मनन करने, अपनी स्वतंत्र राय बनाने और इसे बिना किसी हिचक के रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने में सक्षम हों। सीखने के अनुभवों को अधिक समृद्ध बनाने के लिए शिक्षा एक अदद पाठ्यपुस्तक पर केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। साथ ही साथ जिन बिंदुओं पर पाठ्यपुस्तक में विचार-विमर्श हो वह बच्चों की रोजमर्रा की जिन्दगी, स्कूल और उसके बाहर के अनुभवों से जुड़ा हो। इन उद्देश्यों के लिए यह जरूरी है कि कक्षा में तरह-तरह की सामग्री का इस्तेमाल किया जाए। पाठ्यपुस्तकें इकलौती परम पावन संसाधन नहीं हैं। अखबारों की कतरनें, पत्रिकाएँ, कविता आदि सृजनात्मक साहित्य, फिल्में, इशतहार-पोस्टर, इंटरनेट, कार्टून आदि सीखने-सिखाने के बेहतरीन जरिए हो सकते हैं।<sup>10</sup> भले ही राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 ने इतने समालोचनात्मक दृष्टि पैदा करने की बात की हो। फिर भी पाठ्यपुस्तकों की राजनीति जनवादी और अस्मितावादी विमर्श के लिए नए तरह के खतरों को उत्पन्न कर सकती है। सरकारें शायद रोष रहित, विवाद रहित आदर्श नागरिक बनाने का काम जोरों से करने लगे। जिसमें किसी आलोचना का स्थान नहीं होगा, विद्यार्थी पढ़ेंगे पर सवाल नहीं उठाएंगे, किताबों को पवित्र ग्रंथों की तरह पेश किया जाएगा और ये वर्चस्वशाली वर्ग के प्रति सद्भाव बनाए रखेंगे। इस तरह ये किताबें शायद ऐसे नागरिक पैदा करेंगी जो सरकार की हर तरह की जायज और नाजायज नीतियों का आँख मूँद कर समर्थन करेंगे। यह बहुत ही चिंतनीय विषय है।

इसके साथ ही यह तर्क भी दिया जाता है कि अब जातिगत आरक्षण या विमर्श के बजाय, आर्थिक पहलुओं पर गौर किया जाना चाहिए। अब नए समाज और आधुनिक लोकतंत्र में आर्थिक प्रश्न और समृद्धि अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु जिस समाज में जाति का दंश हर संस्थाई परिप्रेक्ष्य में मौजूद हो, वहाँ ये तर्क दिया जाना कि आर्थिक स्थिति से सामाजिक स्थिति भी बदलेगी थोथा साबित हो गई है। आर्थिकता के सवाल को गौर से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि आर्थिकता का प्रश्न अभिन्न तौर पर जाति से जुड़ा है। आधुनिकीकरण की सोच को मान्यता प्रदान करते हुए यह सोचा गया है कि जाति व्यवस्था सामन्तवादी व्यवस्था की ही देन है। इसलिए आधुनिक योजनाओं के लागू होने से जाति खत्म हो जाएगी। परन्तु संस्थाओं का स्वरूप आधुनिक होने के बावजूद यह सामाजिक संरचना में अधिक बदलाव नहीं कर सका। आनन्द तेलतुमड़े मानते हैं कि आधुनिकीकरण के बावजूद राजसत्ता सामन्ती नजरिया नहीं छोड़ पाती। इसी संदर्भ में वे के. श्रीनिवासन को उद्धृत करते हुए कहते हैं, “भारत जैसे विलंबित पूंजीवादी समाज में राजसत्ता ही है जो वर्ग के मुकाबले आर्थिक संक्रमण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक कमजोर नागरिक समाज में जहाँ सामाजिक अस्मिता के प्रश्न पर संवाद के लिए साधन अपर्याप्त हों। जहाँ समाज को सैद्धान्तिक और बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने की कमी हो। यह सब पूँजीपति वर्ग की ऐतिहासिक और ढाँचागत सीमाओं को ही दर्शाता है। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक-आर्थिक संक्रमण का प्रश्न अपर्याप्त रूप से अछूता बना रहा। अपनी ऐतिहासिक सीमाओं के चलते राजसत्ता यह काम नहीं कर सकती और ऐसे मुद्दों पर विचार करने के लिए नौकरशाही के अपने तर्क होते हैं। अगर राजसत्ता कुछ करती भी है तो वह पूर्णतः सफल नहीं हो सकती।<sup>11</sup> पुराने दंश को तोड़ने के साथ-साथ नई पहचान बनाने और उसे स्वीकृति दिलाने का संघर्ष अब अलग-अलग रूपों में हमारे सामने है। आधुनिकता और प्रगति के तमाम दावों के बावजूद अभी भी भारतीय समाज विभेदकारी प्रवृत्तियों से ग्रसित है। चूँकि अस्मिता निर्माण एक लंबी और सतत प्रक्रिया है ऐसे में दलित विमर्श से उपजे मुद्दों को उजागर करना, साथ ही उसकी ऐतिहासिकता बनाए रखना, उस के

बदलते स्वरूपों पर चिंतन मनन करना तथा उसके दावों एवं समकालीन चारित्रिक विशेषताओं को नए नजरिए से देखना प्रासंगिक हो सकता है। दलित विमर्श अपने आप को सिर्फ जातिगत मुक्ति के रूप में ही सीमित न कर ले, इस पर भी एक नई अंतर्दृष्टि डालने की जरूरत है।

### सन्दर्भ सूची

1. आंद्रे बेते, फरवरी: 1992, कास्ट एंड फेमिली: इन रीप्रेजेंटेशन ऑफ इंडियन सोसाइटी, एन्थ्रोपॉलोजी टुडे, रॉयल एन्थ्रोपॉलोजिकल इन्स्टिट्यूट ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड पृष्ठ- 15.
2. सुखदेव थोराट, 2009, दलित इन इंडिया: सर्च फॉर कॉमन डेस्टिनी, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
3. कांचा इलैया, 2003, मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ (अनुवाद- मुकेश मानस), आरोही बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृष्ठ- 11.
4. श्रुति नागवंशी, 11 नवम्बर, 2001, मुसहर बच्चों से मास्टर साब शौचालय साफ़ करवाते हैं, समय लाइव, नई दिल्ली.
5. कृष्ण कुमार, 1995, लिसनिंग टू गांधी, सेमिनार, अंक - 5, पृष्ठ - 436
6. कांचा इलैया, 2003, मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ (अनुवाद- मुकेश मानस), आरोही बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृष्ठ- 14.
7. ऋतुबाला, 1996, माध्यमिक स्तरीय पाठ्यपुस्तकों में वंचितों की छवि: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, शोध प्रबंध, केंद्रीय शिक्षा संस्था, दिल्ली विश्वविद्यालय.
8. यशपाल, 2010, स्कूली शिक्षा और पाठ्यक्रम, हस्तक्षेप, जुलाई 2010
9. सतीश देशपांडे, 2012, ‘बगुला भगती में परायण’, शिक्षा विमर्श पत्रिका, जुलाई- अक्टूबर 2012, अंक- 4 एवं 5, दिगंतर, जयपुर, पृष्ठ- 61.
10. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, 2005, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.
11. आनंद तेलतुमड़े, 2011, सत्ता, समाज और दलित (अनुवाद-अवधेश कुमार सिंह), ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, पृष्ठ-28.